ISSN 2321-1288
Registered & Listed by UGC 64762

RAJHISCO

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS

RAJASTHAN HISTORY CONGRESS
RHC
ESTD. 1967
RAJHISCO

PROCEEDING VOLUME XXXI

DEPARTMENT OF HISTORY
SARDAR PATEL UNIVERSITY OF POLICE,
SECURITY AND CRIMINAL JUSTICE,
JODHPUR

DECEMBER - 2016

52. मध्यकालीन मेवाड़ में महिलाओं के कतिपय आभूषण
–डॉ. ममता पूर्बिया ... 385

53. राजस्थान की संस्कृति में लोकदेवता की वर्तमान समय में प्रासंगिकता (पर्यावरण एवं समाज सुधार के रूप में)
–डॉ. उषा पुरोहित ... 391

54. ऊंटाला की विजय : सम्मान की प्रतिस्पर्धा
–कुसुम राठौड़ एवं डॉ. वी. के त्रिवेदी ... 396

55. धाट (उमरकोट) की भाषा : ढाटकी (थरी) बोली
–डॉ. पंकज चांडक ... 401

56. उदयपुर एवं चूरू का तुलनात्मक अध्ययन : परम्परागत जल प्रबंधन के संदर्भ में
–डॉ. मीना कुमारी जांगिड़ ... 406

57. राजस्थान के इतिहास में वीरांगनाओं का योगदान : ऐतिहासिक अध्ययन
–डॉ. ममता यादव ... 412

58. मेवाड़ के लोक कलाओं में बदलते सामाजिक मूल्य
–डॉ. मीनाक्षी बोहरा (शर्मा) ... 419

59. **Rao Ganpat Singh Chitalwana Prize Paper**
उपान्तिक वर्ग में आन्तरिक स्तरीकरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन
–डॉ. अनिल पुरोहित ... 426

60. **Dr. Gajanand Choudhary Prize Paper**
सामाजिक इतिहास लेखन एवं इसके स्रोत : 'सामंतीय–औपनिवेशिक राजस्थान'
–डॉ. सुमेस्ता ... 442

61. झुन्झुनू जिले के प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र व हवेलियाँ
–डॉ. सजीव कुमार ... 454

62. जयपुर में राजपूत ठिकानेदारों की हवेलियाँ
–प्रो. दिग्विजय भटनागर ... 460

Rao Ganpat Singh Chitalwana Prize Paper

उपान्तिक वर्ग में आन्तरिक स्तरीकरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. अनिल पुरोहित

कार्लमार्क्स का यह कथन है कि, जिस समय सर्वहारा-वर्ग की सत्ता स्थापित होगी, उस समय वर्ग संघर्ष सदैव के लिये समाप्त हो जायेगा। किन्तु वास्तविक स्थितियों का यदि अध्ययन करें, तो मार्क्स की यह सोच मात्र यूटोपिया ही सिद्ध हो सकती है, क्योंकि साम्यावादी सरकारों (सर्वहारा का शासन) की स्थापना के साथ शोषण समाप्त नहीं हुआ। फ्रांसिस फुकोयामा जैसे नवमार्क्सवादी विचारकों का यह मानना है कि, शोषण सदैव समाज में विद्यमान रहता है। विभिन्न वर्गों में सामाजिक स्तरीकरण में शोषण के बीज निहित रहते हैं। स्वंय सर्वहारा वर्ग में स्तरीकरण प्राप्त होता है तथा आर्थिक-सामाजिक स्तरीकरण शोषण का मूल आधार बनता है। यथा- शोषण सिर्फ मालिक-मजदूर के बीच ही नहीं है-मजदूर वर्ग में भी सामाजिक-आर्थिक भेद के चलते ऊँच-नीच का भाव विद्यामान दिखलाई पड़ता हैं। वर्ग संघर्ष मात्र अधिकार युक्त एवं सर्वहारों में ही नहीं है, बल्कि आंतरिक रूप से यह संघर्ष सर्वहारा वर्ग में व्याप्त हैं। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था की भाँति भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी सामाजिक स्तरीकरण दिखलाई पडता है। कार्लमार्क्स की धारणा के अनुसार, प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में अधिकार सहित एवं अधिकार विहीन दोंनों ही प्रकार के वर्ग होते है तथा दोंनों में ही वर्ग-संघर्ष होना स्वाभाविक है। किन्तु इस सामान्य वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग-संघर्ष का भी अस्तित्व है। उत्तर आधुनिक विचारधारा के समर्थक विद्वानों का यह मानना है कि, समाज के अधिकार विहीन अर्थात् उपान्तिक (Marginalized) वर्गों में भी वर्ग-संघर्ष व्याप्त है। सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया में यह बात सोच से परे है कि उच्च वर्ग के मनुष्य निम्न वर्ग का हिस्सा बनने लगे। किन्तु हम यदि भारत के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करें तो, हमें ऐसी अनेक जातियां मिलेगी, जिनका उदय समाज में उच्च वर्ग के रूप में हुआ, किन्तु वे बाद के काल में वे अपने से निम्न वर्ग का अंग बन जाती है।

जाति सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी प्रणाली है जिसकी विशेषताएं हैं-

श्रेणीबद्धता, आनुवंशिकता, एक या कुछ विशेष व्यवसायों में लगे रहना, असमानता, सजातीय विवाह, बाहरी लोगों से भोजन लेने पर प्रतिबंध और श्रेणीबद्धता से जुड़ा परिशुद्धता और अपवित्र होने का विचार। परवर्ती वैदिक काल (लगभग 1000 ई.पू. -लगभग 600 ई.पू.) में ऊपरी गंगा घाटी में अपेक्षाकृत स्थायी, प्रमुख रूप से कृषि व्यवस्था में सामाजिक विभेदन की प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती रही और एक दूसरे से भिन्न और अलग चार वर्ण पूरी तरह से सामाजिक वास्तविकता बन गए। ब्राह्मण जटिल धार्मिक अनुष्ठानों पर एकाधिकार रखने वाले विशेषज्ञ पुजारी, विद्वान और अध्यापक बन गए। क्षत्रिय योद्धा और शासक बन गए जो निरंतर लड़ाइयों में हिस्से और विजयों के कारण बड़ी भूमि और भौतिक संसाधनों पर नियंत्रण रखते थे। वैश्य कर देने वाले किसान, पशुपालक, कामगार और व्यापारी और शूद्र घरेलू नौकर, कृषि मजदूर और दासों में परिवर्तित हो गए। पाठों में उस काल उत्तरोत्तर अक्षमतावादी परिवेष और असमान वितरण के लिए अधिक अधिशेष की स्थितियों में वैष्यों और शूद्रों के मुकाबले ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्चस्व के बारे में कोई संदेह नहीं होता है। श्रेष्ठता के ब्राह्मणों के दावे को क्षत्रियों द्वारा काफी लंबे समय तक चुनौती दिये जाने के बावजूद ये दोनों निम्न दो वर्णों के खिलाफ एकजुट रहे और एतरेय ब्राह्मण (VII.29) में वैश्य को अनस्य बालीकृत (दूसरों के लिए), अनस्यद्य (दूसरे जिसके ऊपर रहते है) और यथाकामाज्ञेय (जिसका जब चाहे दमन किया जा सकता है) बताया जाना और शूद्र को अनस्य प्रेष्य (दूसरों का नौकर या संदेशवाहक), कामोत्थप्य (जिससे दिन-रात काम लिया जा सकता है) और यथाकामावध्य (जिसे जब चाहे पीटा जा सकता है) बताया जाना अपने आप में सब कुछ कह देता है।

सामाजिक स्तरीकरण के मुद्दे पर धर्मसूत्रों द्वारा निर्धारित विचारों का गृह्यसूत्रों, पाणिनी की अष्टाध्यायी, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, पतंजलि के महाभाष्य, रामायण और महाभारत ने पूरी तरह से अनुमोदित और व्याख्यित किया है। विस्तृत विवरण में अन्तर है लेकिन हमारे पास बहुत से समूहों को वर्णजाति फ्रेमवर्क में आत्मसात किये जाने, सामाजिक श्रेणीबद्धता में उनकी बदली हुई स्थिति और इस बारे में बदलती अवधारणा, उनके वास्तविक और निर्धारित कार्यों तथा उनके विखण्डन और संयोजन के बारे में सूचना है। मनु के विचार हिनहिनान प्रसुयंते वर्णान पंचाधशवेत[1] का मतलब यह नहीं है कि, निम्न वर्ण, पंद्रह निम्न वर्ण पैदा करते हैं, बल्कि यह कि निम्न बढ़ते हुए क्रम में छः प्रतिलोम जातियाँ चाण्डाल, क्षत्रि, अयोगवा, वैदेहक, मगध और सूत प्रतिलोम पत्नियों अथवा प्रतिलोम संबंधों से पंद्रह निम्न जातियां पैदा करते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अस्पृश्यता का चरणो ंमें विकास हुआ और समाज के निचले स्थान पर वास्तव में अस्पृश्य जातियों की संरचना धीरे-धीरे बढ़ी। 200 ई. तक के सभी ब्राह्मणीय पुस्तकों

का साक्ष्य धर्मसूत्रों की तीन की सूची में तीन या चार से अधिक जातियां नहीं जोड़ता। चाण्डाल अतिरिक्त गरीब और अलग-थलग समूह था, जो शमशानों में कार्य करता था, लेकिन इसके साथ वे शिकारियों, चिड़िमारों और कसाईयों का भी कार्य करते थे। कुछ पुस्तकों में उल्लिखित मृतप और मतंग चाण्डालों के ही उपसमूह रहे होंगे। सामाजिक ताने-बाने में इस समय जबरदस्त परिवर्तन आ रहा थे। बहुत से व्यवसाय शिल्प और जनजातियां अलग सत्ताओं के रूप में सामने आ रही है। न तो उनके अस्तित्व की उपेक्षा की जा रही सकती थी और न उन्हें मौजूदा वर्णों में रखा जा सकता है। इससे वर्णसंकर या मिश्रित जातियों के सिद्धांत का प्रादुर्भाव हुआ। इनका मूल चार वर्णों के सदस्यों के बीच अंतर्प्रजनन और अनुलोम (स्वाभाविक क्रम या निम्न वर्ण की स्त्री) और प्रतिलोम (उल्टे क्रम में या स्त्री उच्च वर्ण की) संबंधों से उत्पन्न संतानों में देखा गया। प्रतिलोम के मुकाबले अनलोम की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता समाज की पितृसत्तात्मक प्रकृति के कारण थी। धर्मसूत्रों ने विनिर्दिष्ट वर्ण स्तरों पर जाति मिश्रण के परिणामस्वरूप इस तरह की चौबीस मिश्रित जातियों का उल्लेख किया है। यह मिश्रित जातियां चार वर्णो के अलावा अवशिष्ट श्रेणी है, यह बात बौधायन द्वारा अवंती, मगध, सौराष्ट्र, दक्षिणपथ, उपवृत, सिंध और सौविरस के बांशिदों को संकरनयोनाह् बताए जाने के सिद्ध हो जाती है।[2] व्रत्य का विचार, जिसके अंतर्गत एक समूह के आर्य मूल और बाद में उपनयन जैसे वर्ण मापदण्डो का पालन न किए जाने से प्रतिष्ठा के नुकसान को स्वीकार किया गया, एक अवधारणा है, जिसका स्वतंत्र रूप से और बाहरी लोगों को मुख्य धारा में स्वीकार करने के लिये वर्णसंकर सिद्धान्त के अंग के रूप में प्रयोग किया गया।[3]

बुद्धवाद और जैनवाद जैसे शास्त्र विरुद्ध पंथों ने जाति और अस्पृश्यता के विकास को किस तरह से लिया? यह विचार करना जरुरी हैं। उनकी धार्मिक व्यवस्थाएं धन, हैसियत या सामाजिक मूल पर ध्यान दिए बगैर लोगो को स्वीकार करती थी और केवल अपने सद्गुणों और ज्ञान के आधार पर लोगों को उच्च पद तक जाने देती थी। उन्होने इस बात से इन्कार किया कि, चार वर्णों वाली सरंचना के पीछे कोई दिव्य स्वीकृति है अथवा सांसारिक कामों में लगकर भी ब्राह्मण ऊँची सामाजिक हैसियत के हकदार थे और शूद्रों का काम तीन उच्च वर्णों की सेवा करना था। परिवर्तन के तौर पर चार वर्णों की बात करते हुए उन्होंने क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ऊपर रखा। बुद्धवाद कृषि (कषी), व्यापार (वाणिज) और पशुपालन (गोरक्खा) को उच्च व्यवसाय (कम्म) मानते थे। बुद्धवाद ने वर्ण पृष्ठभूमि पर ध्यान दिए बगैर गृहपतियों को सम्मानीय स्थान दिया और व्यापारी समुदाय को ताल्लुक रखने वाले गृहवंशो को जैनवाद में ऐसा ही सम्मान मिला। इसके बावजूद बुद्धवाद और जैनवाद दोनों ने चार श्रेणीबद्ध वर्णों, बहुत सी जातियों और अस्पृश्यता की वास्तिविकता को उत्तर वैदिक चरण की जटिल सामाजिक-आर्थिक

संरचना के अभिन्न और अहरणीय अंग के रूप में स्वीकार किया और मौजूद सामाजिक व्यवस्था में कोई सरंचनागत परिवर्तन करने का प्रयास नहीं किया। समानता और भाईचारे का उनका आग्रह उनके संघ तक ही सीमित रहा और यहां भी स्त्रियां पुरूषों के अधिनस्थ ही रहीं। बुद्धवाद काफी व्यावहारिक था और उसने दासों, कर्जदारों और भगोडों सैनिकों को प्रवेश देकर अपने संरक्षकों को पराया नहीं बनाया। भारी बहुसंख्या के बाहर संघ में शामिल होने वाले या उसकी सहायता करने वाले लोग उच्च जातियों और परिवारों से थे।[4] बुद्धवाद और जैनवाद दोनों में समृद्ध और कंगाल, उच्च (उकत्थ) और नीच (हीन) के बीच अंतर स्पष्ट और साफ है और उसे जातियों, कुलों (परिवारों), कम्मों (व्यवसायों) और सिप्पों (शिल्पों) में लागू किया गया है। पालि कानून में स्वीपर (पप्पचडक) के व्यवसाय, टोकरी बनाने वाले (नलकार), चमड़ा कामगार (चम्मकार), जुलाहे (पेसकार), कुम्हार (कुंभकार) और नाई (नहापित) के शिल्पों को नीच माना जाता है और चांडालों, नेसदों, पुक्कसों वेनों और रथाकारों को हीन जातियां माना जाता है और चांडालों, जो मंतगो और पनों के रूप में भी जाने जाते हैं, का जैन पुस्तकों में इतना ही तिरस्कार किया गया है। शिकारियों और मछवारों के व्यवसाय को भी बहुत हेय माना गया है।

बुद्धवादी जातकों, जो पालि कानून के बाद के है और अक्सर मनुस्मृति के समय के है, में चांड़ालो के साथ अस्पृश्यता का स्वरूप और उनकी आर्थिक दुर्दशा उतनी ही कठोर है, जिसका निर्धारण मनुस्मृति के कानूनदाता ने किया है और जिसे सामान्य तौर पर ब्राह्मणवाद के कुरूप चेहरे का प्रतीक माना जाता है, हालांकि चांड़ालो को शव वाहक, हटाने वाले और दाह संस्कार करने वाले, फांसी लगाने वाले, स्वीपर, रात्रि गार्ड और शिकारी सहित बहुत से काम करते पाया गया है। निषादों, जो शिकार करते है और मछली मारते थे (उनके गांवों, मुखियाओं और संघों के बीच में उल्लेख है), पुक्कुसों, जो शिकारी और कचरा साफ करने वाले थे, वेनाओं, जो बांस मजदूर थे और शायद शिकारी भी थे और रथकारों, जो युद्ध के लिये रथ बनाते थे, को चाड़ालों जैसा चित्रित किया गया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि टोकरी निर्माता, चर्मकार, कुम्हार और नाई को समकालीन ब्राह्मणीय कामों में बेहतर स्थान मिला है; बौधायन[5] और भारद्वाज[6] के गृहसूत्रों में रथकार के लिये उपनयन भी निर्धारित किया गया है; और बांस मजदूर और टोकरी निर्माता, बरूड़ को प्रारंभिक मध्ययुगीन स्मृतियों से ही अस्पृश्य मानना शुरू किया गया।[7] बुद्धवाद और जैनवाद दोनों द्वारा अंहिसा पर बल ने इनमें से बहुत जातियों, जो अपनी भौतिक स्थिति, गुजारे और आजीविका को जरूरतों के कारण हिंसापूर्वक गतिविधियों के लिये बाध्य थीं, के प्रति उनके दृष्टिकोण को प्रभावित किया। चांडालों के मामले में मानव शवों, जिन्हे वे संभालते थें, के प्रति आदिम भय ने उनकी अपवित्रता की मात्रा को बढा दिया।

बुनियादी तथ्य यह है कि जाति ने आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी शुरू कर दी थी और इसने प्रारंभिक भारत के जन्म आधारित श्रेणीबद्ध वर्ग समाज के व्यवसायों में मजबूत जड़े जमा ली थी और इस आंतरिक असमानता में निहित अन्याय का विरोध करने वाले किसी आंदोलन में इस वास्तविकता को बदलने या कोई व्यवहार्य और स्थाई विकल्प देने की शक्ति नहीं थी। यह बात स्वीकार की जानी चाहिये कि बाह्मणवाद, बुद्धवाद और जैनवाद ने जाति और अस्पृश्यता के विकास की इस प्रक्रिया का विरोध करने के बजाए विचारधारात्मक रूप से उसमें योगदान किया। वास्तव में उत्तरी भारत में 600 ई.पू. और 200 ई.पू. के बीच वर्ग संबंधो के सख्त हो जाने के साथ जाति व्यवस्था ठोस बन गई और अस्पृश्यता मौर्य काल से पहले शुरू होकर 200 ई. तक प्रबल बन गई।[8] चूंकि अस्पृश्य बनाई गई अधिकांश जातियां वे थी, जिनका धन, सत्ता या सम्मान के वितरण में न के बराबर हिस्सा था, इसलिये अस्पृश्यता को जाति और वर्ग दोंनों की संस्थाबद्ध असमानता की चरम अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाना चाहिए। अस्पृश्य भारतीय जाति और वर्ग संरचना का हिस्सा थे और हैं।

रामशरण शर्मा द्वारा लिखित शूद्राज इन एनशियंट इंडिया में शूद्रों और दलितों की प्राचीन भारत में उपस्थिति और स्थिति को कई चरणों में देखा गया यद्यपि इस पुस्तक का फोकस शूद्रों पर है लेकिन शूद्रों की एक श्रेणी, निर्वासित शूद्र, में दलित भी समाहित है। शर्मा के अनुसार, शूद्रों के इतिहास का प्रत्येक चरण अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तन और इसके फलस्वरूप होने वाले वर्ग-विभाजन से जुड़ा हुआ था। ऋग्वैदिक काल में आर्य समाज मुख्य रूप से कबीलाई, पशुचारक और एक तरह से समतामूलक था। खेती अभी पूरी तरह से स्थापित नहीं हो पाई थीं, अत: पर्याप्त अधिशेष (सरप्लस) के अभाव में वर्ग-विभाजन अधिक विकसित नहीं था। यह एक तरह का वर्ग-पूर्व समाज था, जिसमें सेवा-कार्य के लिये पूर्णत: समर्पित वर्ग अर्थात शूद्रों की आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इस युग के अंत में अनेक उदाहरण मिलते है, जब पराजित आर्य या अनार्य कबीलों के लोगों को शूद्र बनाया गया। परंतु बड़ा परिवर्तन तब आया, जब कृषि अर्थव्यवस्था का पूरा विकास हो गया और बड़े पैमाने पर मजदूरों की जरूरत महसूस होने लगी। अत: इस काल में शूद्र वर्ण का निर्माण हुआ, अर्थात ऐसे लोगों का जिन्हे सामाजिक और कानूनी तौर पर निंरतर मजदूर और सेवक के रूप में रखा जा सके। बड़े-बड़े राज्यों के विकास होने के कारण निम्न वर्गों को और दबाया जा सकता था, और फलत: शूद्रों और अन्य वर्णो के बीच का अंतर और अधिक होने लगा। इस विभेद को धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों ने न्यायाचित बना दिया। मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच की दूरी बढने लगी। शूद्रों को वैदिक शिक्षा, धार्मिक कर्मकाडों और उपनयन से वंचित कर दिया गया। उन्हे सिर्फ शारीरिक श्रम के योग्य माना गया। लेकिन सन् 500

और 300 ईसा पूर्व के बीच शूद्रों की संख्या इतनी नही थी कि वे उत्पादन की मुख्य शक्ति बन सकें, यह कार्य प्रमुखत: वैश्यों द्वारा ही किया जाता था और शूद्र उनके सहायक के रूप की तरह काम करते थे। गुप्त काल (सन् 300 से 600 ई.के बीच) में शूद्रों की स्थिति में थोड़ा परिवर्तन आया और कई स्तर पर उन्हे वैश्यों के समकक्ष माना जाने लगा। शर्मा के अनुसार, एक दुहरी गतिशिलता के तहत वैश्यों का स्तर नीचे गया और शूद्रों का ऊपर उठा। इस दौरान शूद्रों के दो विभाग हो गये – एक को सतशुद्र और दुसरे को असतशुद्र की श्रेणी में रखा जाने लगा। दोनो के सामाजिक और धार्मिक अधिकारों में काफी फर्क था। असतशुद्रों को अछूत भी समझा जाने लगा और इनकी संख्या में निरंतर वृद्वि होती गई। इस तरह से देखें तो शूद्रों के बीच से ही दलित जातियों का आविर्भाव हुआ।

विवेकानंद झा ने अपने लेखों में खास तौर पर प्राचीन भारत में अछुतों के इतिहास पर ध्यान केंद्रित किया है। अपने लेख 'स्टेजेज इन दी हिस्टरी आफ अनटचेबल्स' (1975) और 'चांडाल एण्ड द ओरिजिंस आफ अनटचेबल्टी' (2004) में वे ऋग्वेदिक काल से लेकर सन् 1200 ईसवी तक दलितों के इतिहास का सर्वेक्षण करते है। वे 'अछुतों के इतिहास' को चार चरणों में विभाजित करते है। उनके अनुसार, ऋग्वैदिक काल में कोई अछूत नहीं था, न ही कोई समाज में बहिष्कृत था। हांलाकि उत्तरवैदिक काल में चांडाल को अत्यंत घृणा के साथ देखा जाता था, परंतु वे अछूत नहीं थे। वैदिक काल की समाप्ति के बाद दूसरे चरण की शुरूआत हुई जो 600 ईसा पूर्व से 200 ई. तक माना जा सकता है। इस दौरान प्रदूषण और कुछ हद तक अस्पृश्यता भी भावनाएं उभरने लगीं। चांडाल न सिर्फ प्रदूषित बल्कि अछूत भी समझे जाने लगे। उन्हे सामाजिक और धार्मिक स्तर पर अशुभ और अमंगलकारी माना जाने लगा। तीसरे चरण में (सन् 200 से 600 ई. तक) में अस्पृश्यता से संबंधित प्रतिबंध अधिक सशक्त होते गए और नए समूह अछूतों की श्रेणी में शामिल किए जाते रहे जिससे उनकी संख्या में काफी वृद्धि हो गई। अछूत माने जाने वाले विभिन्न जातियों के लिये भिन्न-भिन्न स्तर पर अपवित्रता के नियम लागू किए गए। चौथे चरण मे, सन् 600 से 1200 ई. तक के अनगिनत नए समूहों को अछूत करार देकर उनको अपवित्र घोषित किया गया। इस तरह से दलित जातियों की संख्या में अपरिमित वृद्धि हुई और उनके खिलाफ प्रतिबंध और कड़े होते गए।

सुवीरा जायसवाल ने भारत की जाति व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अपनी पुस्तक कास्ट : ओरिजन, फक्शन एंड डाइमेशंस आफ चेंज (2005) और अपने एक लेख में उन्होंने जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास पर गंभीर विचार किया है। उनके अनुसार, जातियों का उद्भव एक सामाजिक प्रक्रिया के तहत हुआ और यह वर्ण व्यवस्था के मानक पर आधारित था। जातियों का निर्माण और विशेष रूप से सजातीय

विवाह की प्रथा निरंतर सुदृढ़ होते पितृसत्ता के कारण विकसित हुई। इसके अलावा श्रमिको की लगातार बढ़ती हुई जरूरत ने शुद्रों और अछूतों का निर्माण किया। इस तरह से, लेखिका के अनुसार, जाति व्यवस्था दरअसल वर्ण व्यवस्था पर आधारित है और प्राचीन भारत में वर्ग-समाज को नियत्रिंत करने का काम करती थी। शासक वर्गों के हितों को सुरक्षित करने में इसकी बड़ी भूमिका थी। अत: जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता के मूल में निरंतर सुदृढ़ होती पितृसत्तात्मकता, शारीरिक श्रम के प्रति अरूचि और तिरस्कार की भावना और श्रमिकों को नियत्रिंत करने की आवश्यकता थी।

दक्षिण भारत में जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के विकास पर के.आर. हनुमंतन का लेख 'इवोल्यूशन आफ अनटचेबिलिटी इन तमिलनाडु (2004)' महत्वपूर्ण है। उनका मानना है कि अस्पृश्यता वस्तुत: वर्ण व्यवस्था का ही उपोत्पाद (बाई- प्रोडेक्ट) है। उत्तर-वैदिक काल में अछूतों को चांडाल कहा जाता था और उनके दो प्रकार थे: कर्म चांडाल और जन्म चांडाल। हनुमंतन के अनुसार, अहिंसा के सिद्धांत ने अछूत जातियों की सख्या में बहुत बढोतरी कर दी। इसके कारण जो जातियां (जैसे परइयार, चमार इत्यादि) पहले समाज में सम्मानित और प्रतिष्ठित थी, अब धीरे-धीरे अछुतों की श्रेणी में शामिल होती गयी। तमिलनाडु में संगम काल में छुआछुत की भावना नहीं थी। लेकिन उत्तर संगम काल में इस मनोवृत्ति को शुरूआत हुई और अस्पृश्यता का जोर बढा। पल्लव काल में (सन् 575-900 ई.) जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की भावना समाज में और व्यापक तथा गहरी होती गई। पल्लव काल में ही तमिल समाज में गोमांस खाने वाले के प्रति वितृष्णा की भावना व्याप्त हो गई। लेखक के अनुसार, दक्षिण भारत में संगम युग में अस्पृश्यता नहीं मौजूद थी, उत्तर- संगम काल में बौद्ध और जैन धर्मो के अहिंसा-सिद्धांत के कारण इसका आविर्भाव हुआ और पल्लव युग में इस भावना का विस्तार हुआ। चोल काल में अलग अछूत गांवों का जिक्र पाया गया है, और विजयनगर शासनकाल में अछूत जातियों की संख्या काफी बढ़ जाती है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार वर्ण-व्यवस्था थी, जिसमें चार वर्णों को स्वीकारा गया है, यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र। इनमें स्तरीकरण में सबसे निचला स्तर शूद्रों को प्राप्त था, किन्तु यदि हम इस प्राचीन भारतीय व्यवस्था के इस वर्ण का अध्ययन करते है तो हमें ज्ञात होता है कि, इस वर्ण का विभाजन (आंतरिक रूप से) हो चुका था, जिसे हम तकनीकि (Skilled) शूद्र एवं गैर-तकनीकि (Non-Skilled) शूद्र मान सकते है। यह विभाजन हमें इसलिये स्वीकारना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय-वर्ण यद्यपि उच्च है, किन्तु उसके लिये युद्ध-सम्बन्धी सामग्रियों, राजप्रासाद को सजाने-संवारने की सामग्रियों, सामान्य और राजउद्यानों की व्यवस्थाओं आदि कार्यों के लिये उन्हें जिन लोगों की आवश्यकता होती थी, वे सभी शूद्र-वर्ण से जुड़े थे। इसके

अलावा वैश्य-वर्ण के लोग का मुख्य कार्य व्यापार करना था, किन्तु उनके लिये उत्पादों एवं उत्पादकों की प्राप्ति का स्त्रोत यही शूद्र वर्ण था, जो अपने कौशल से उपरोक्त सभी कार्य किया करता था। कौशल-निपुण होने पर भी मुख्य सामाजिक व्यवस्था में उन्हें निम्न स्थान ही प्राप्त था, किन्तु अपने वर्ण में ये कौशल युक्त समुह अन्य सामान्य समुहों से उच्च था। शूद्रों में यह कौशल कैसे उत्पन्न हुए? यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता हैं, किन्तु इसका एक कारण हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि, प्रारम्भ में भारत के अनेक क्षेत्रों में रहने वाली जंगली-जातियों को यद्यपि विजित क्षत्रियों ने किया, किन्तु उनका संस्कृतिकरण बाह्मणों ने किया तथा उन्होंने जीवन-यापन के तरीके वैश्यों से सीखें हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति के समीप रहने के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अलग-अलग तरीके से प्रयोग करना शूद्रों ने अधिक कुशलता से सीखा होगा। यद्यपि प्राचीन भारत में समाज की मुख्य व्यवस्था में शूद्रों की स्थिती में बदलाव आने लगे थे, किन्तु स्पष्ट बदलाव हमें गुप्त एवं गुप्तोत्तर भारत में मिलते है। स्कन्द पुराण में शूद्रों को अन्नदाता और गृहस्थ कहा गया हैं।[9] इस काल में दस्तकारों का अत्यधिक महत्त्व हुआ करता था। कोई भी क्षेत्र का स्वामी यह नहीं चाहता था कि, उसके क्षेत्र के दस्तकार उसका क्षेत्र छोड़ अन्य क्षेत्रों में चले जायें, क्योंकि से दस्कार स्थानीय अर्थव्यवस्था का मुख्याधार थे। 7वीं शताब्दी के समुन्द्र गुप्त के दो अधिकार-पत्र प्राप्त होते है, जिनमें कर अदा करने वाले दस्तकारों एवं कृषकों से कहा गया है कि, वे गांव छोडकर ना जायें और ना ही करमुक्त क्षेत्रों में रहें।[10] कुछ चन्देल वंशी अनुदान पत्रों में भी दस्तकारों की ऐसी अनेक जातियों का वर्णन है, जिन्हें दान किये जाने वाले ग्रामों के साथ पूर्णत: हस्तान्तरित कर दिया जाता था।[11] दक्षिण भारतीय इतिहास के स्त्रोतों में अनेक उदाहरण मिलते है, जिनमें अनेक दस्तकारों को मंदिरों एवं मठों को हस्तान्तरित किया गया था।[12] इसी प्रकार मध्ययुगीन भारत यद्यपि युद्धों का काल था, किन्तु दस्तकारों अथवा समाज के निम्नतम वर्ग की आवश्यकता इस काल भी समाज को अत्यधिक रही, क्योंकि जो सैनिक-अभियान हुआ करते थे, उनमें सेवा के विभिन्न कार्यों एवं आवश्यकताओं के लिये इन श्रम करने वाले लोगों की आवश्यकता थी। इस काल में अनेक शिल्पकारों को सामन्ती पद प्रदान किये गये थे। विजयसेना के देवपारा शिलालेखों से ज्ञात होता है कि, वारेन्द्र के शिल्पकारों की बस्ती के मुखिया शूलपाणी को रणक[13] की उपाधि दी गयी थी। इस काल में ठाकुर, राउत, नायक जैसी उपाधियां कायस्थ एवं उनके सम-जातियों को दी जाती थी, जिससे उनकी सामाजिक स्थिती में अवश्य सुधार आया होगा। आज भी ब्राह्मणों, राजपूतों, कायस्थों, नापतों, हज्जामों आदि उच्च एवं निम्न जातियों में ठाकुर मिलते है।

इस काल में ग्राम एवं भूमि सम्बन्धी रिकार्ड रखने का कार्य अह्लक किया करते थे। इनमें कई श्रेणियां थी, जिनमें से कायस्थ प्रमुख थे। धीरे-धीरे यह पद

महत्वपूर्ण हो गया तो, उच्चतर वर्ण के पढे- लिखे सदस्य भी इस पद की तरफ आकर्षित हुए। कल्हण ने लिखा है कि, बाह्मण शिवरथ को कायस्थ अधिकारी नियुक्त किया गया।[14] धीरे-धीरे उच्च वर्णो की विभिन्न श्रेणियों के लोग इस प्रकार के कार्यो से जुडने लगे तथा उन्होंने अपनी मूल श्रेणी से सम्बन्ध पूर्ण समाप्त कर लिये। कायस्थों की भांति ही इस काल में उत्तरी-भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम-प्रमुखों का एक वर्ग था, जिन्हे महत्तर कहा जाता था। भूमि-अनुदानों एवं भूमि की खरीद- फरोख्त के बारे में अपने क्षेत्र के महत्तर को सूचित करना अनिवार्य होता था। इसके अलावा ग्राम-विशेष के महत्तर की वहाँ की भूमि में काफी हद तक हिस्सेदारी हुआ करती थी। इससे प्रतीत होता है कि, प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था में शूद्र वर्ण का महत्तर पूर्व-मध्यकाल एवं मध्यकाल के समय में काफी अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। इसके अतिरिक्त अनेक उच्च वर्ग के लोग महत्तरों में परिवर्तित हो गये थे, इसी कारण हमें वर्तमान में मेहत्तर, महतो, महाथा, मल्होत्रा, मेहरीता आदि जातियां उच्च एवं निम्न दोनों प्रकार की जातियों में मिलती है।

गुप्तोत्तर काल में भारत आए ह्वेनसांग शुद्रों को खेतीहर स्वीकारता है।[15] किन्तु अलबरूनी, जो कि उसके कुछ शताब्दियों बाद ही भारत आया था, वह वैश्यों एवं शुद्रों की सामाजिक स्थिती में कोई विशेष अंतर नही बताता है।[16] जैसा कि स्कन्दपुराण में कहा गया था कि, वैश्य वर्ग का पतन हो जाएगा एवं वे तेल निकालने वाले एवं धान कूटने वाले बन जाएंगे। 11वीं शताब्दी तक ये परिवर्तन देखने को मिल जाते है।[17]

भारतीय इतिहास की भाँति क्षेत्रिय इतिहास में भी इस प्रकार का आंतरिक स्तरीकरण देखने को मिल जाता हैं। राजस्थान के सामाजिक-आर्थिक इतिहास पर विशेषत: मारवाड़ परगने के सामाजिक-आर्थिक स्तरीकरण पर सर्वप्रथम प्रामाणिक कार्य मारवाड़ नरेश जंसवतसिंह प्रथम के दीवान मुहतां नैणसी ने अपने ग्रंथ 'मारवाड़ रा परगनां री विगत' के रूप में किया है। नैणसी के इस अध्ययन से हमें 17वीं शताब्दी में राजपूताना के एक बड़े हिस्से में व्याप्त जातियों के उदय एवं विकास की जानकारी हो जाती है। कालान्तर में कर्नल जेम्स टॉड के एनाल्स एण्ड एन्टिक्टीज ऑफ राजस्थान; एम.ए. रोरिंग के ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ राजपूताना; सी.टी. मैटकॉफ के दी राजपूत ट्राइब्स; मुंशी रायबहादुर मुंशी हरदयाल की रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राजमारवाड़, 1891 (Marwar Census Report-1891) जैसे ऐतिहासिक ग्रंथों का आधार नैणसी की परगना री विगत ही रही होगी। मर्दुमशुमारी 1894 में प्रथम बार प्रकाशित हुई तथा इसमें 1891 में हुई तत्कालीन मारवाड़ की जन-गणना की रिपोर्ट है। इसमें तत्कालीन मारवाड़ की कौमों का इतिहास, रीति-रिवाज, परम्पराओं आदि का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ इसलिये भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें जिन कौमों-जातियों का उल्लेख किया गया है,

उनका विभिन्न कालों में सामाजिक-स्तर परिवर्तन, व्यवसाय आदि का भी विवरण दिया गया है। मर्दुमशुमारी में जातियों का विभाजन छः श्रेणियां में (A,B,C,D,E,F) किया गया है। इनमें उपान्तिक वर्ग से सम्बन्धित श्रेणियां डी एवं ई है, इनमें भी ई श्रेणी तुलनात्मक रूप से अधिक महत्वपूर्ण है। इन दोनो ही श्रेणियों में शिल्पी, कारीगर, मजदूर इत्यादि आदि उपान्तिक जातियों का सम्पूर्ण विवरण मिलता है।[18]

यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि 'डी' एवं 'ई' श्रेणियों में आन्तरिक रूप से वर्ग-स्तरीकरण देखने को मिलता है। तथ्य यह है कि, इन श्रेणियों में जो विभिन्न जातियां मिलती है, उन जातियो में अनेक जो उप-जातियां है, उनमें समान रीति-रिवाज, परम्पराओं एवं व्यवस्थाओं के होने पर भी उनमें सामाजिक स्तरीकरण की भावना व्याप्त है। प्रस्तुत शोध-पत्र में रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राज-मारवाड़ में वर्णित उपांतिक जातियों के आंतरिक सामाजिक-आर्थिक स्तरीकरण का विशलेषण करने का प्रयास किया गया है।

मर्दुमशुमारी में 'डी' श्रेणी की प्रमुख जातियों में सुनार, नाई, लुहार, खाती, लखारा, रंगरेज, कंदोई, घांची, तेली, कुम्हार, जुलाहा, रैगर, कसाई, पिंजारा, धोबी जैसी अनेक जातियां सम्मिलित है।[19] ई श्रेणी में चेला, चाकर, बागड़ी, थोरी, कोली, रैबारी, धाणका, सांसी इत्यादि अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है।[20]

'डी' क्लास का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि, सुनार जाति में मेड़, बामनिया और नियारिया खांपें है। मेड सुनार शक्ति पूजक है एवं माँस-मदिरा का सेवन करते है। बामनिया सुनार, जो कि पहले ब्राह्मण थे एवं फिर सुनारी के कर्म में लिप्त होकर सुनार हो गये, वे वैष्णव है एवं माँस-मदिरा का सेवन नहीं करते।[21] मेड सुनार चूंकि मूल जाति है तथा अन्य दो जातियां व्यवसाय बदलने से सुनार हुए, अतः मेड सुनार स्वंय को उच्च एवं शेष दो को स्वंय से निम्न स्वीकार करते है। मेड सुनार ब्राह्मण सुनारों के यहां का भोजन करते हैं, किन्तु वैवाहिक सम्बन्ध नहीं स्थापित करते है।[22]

इसी प्रकार नापत जाति में मारूनाई, पूरबिया नाई, वेद नाई, बाबर, मुस्लिम, नायता, जांगडा आदि कौमों का उल्लेख मिलता है। वेद नाई मारूओं की ही खांप है, किन्तु वेद नाई वेदपाठी हो जाने से वेद नाई कहलाए। जब इनकी स्त्रियों ने दाई का कार्य शुरु कर दिया, तो मारुओं ने इनके यहाँ का भोजन तक त्याग दिया।[23] वेद नाई अपने से निम्न जातियों यथा मोची, सरगरा, धाणका आदि के यहाँ भोजन तक नहीं करते है।[24]

मर्दुमशुमारी से यह ज्ञात होता है कि, लुहार जाति में हिन्दु और मुस्लिम दोनों धर्म के लोग है। हिन्दु लुहारों में मारू एवं मालविये लोहार एक-दुसरे के घर से आया भोजन तो कर लेते हैं, किन्तु शामिल बैठकर नहीं करते हैं, क्योंकि दोनों ही स्वंय को दूसरे से उच्च मानते है। इसी प्रकार से दोनों ही लुहार जाति के लोग गाड़ोलिये एवं जाघंडों लुहारो को निम्नतर मानते है और उनके हाथ का पानी तक नहीं पीते है।[25]

इसी प्रकार 'डी' श्रेणी में खाती जाति का उल्लेख आता है, इनका उत्पत्ति सम्बंध सुथार राजपूतों से स्वीकारा जाता है।[26] यद्यपि सुथार राजपूत इनसे उच्च जाति है, किन्तु मर्दुमशुमारी के विवरण अनुसार अब इन दोनों कौमों में सामाजिक सम्बन्ध बनने लगे।[27] इसी खाती जाति में गजधर खाती मिलते है। इनकी विशेषता यह है कि, जो खाती राज-परिवार का काम किया करते थे, उन्हे राज्य से 'गज' का नाम मिला एवं वे गजधर कहलाये एवं इसी कारण वे स्वंय को अन्य खातियों से उच्च मानते है।[28]

मारवाड़ में कलाल भी एक अन्य जाति है, जो शराब के व्यवसाय से सम्बन्धित है। प्रारम्भ में शराब का व्यवसाय करने वाले खंडेलवाल महाजन कलाल कहलाते थे, वे लोग स्वंय शराब पीते नहीं थे। मुस्लिम शासन के प्रभाव से जब शराब की विभिन्न किस्में अस्तित्व में आयी, तब अन्य कौमें भी स्वंय कलालों में बदल गयी, उनमें से प्रमुख थी-टाक राजपूत।[29] टाक राजपूत यद्यपि कलाल जाति का व्यवसाय करके कलाल हो गये, किन्तु इस कौम का होने पर भी उनके सामाजिक सम्बन्ध उन्होंने मात्र राजपूत जातियों से ही रखें। यह जाति कलालों की पुत्री का विवाह तो अपने पुत्र से कर देते, किन्तु अपनी पुत्री कलालों में नहीं ब्याहते थे।[30] मारवाड़ में धोबी जाति में हिन्दु एवं मुसलमान दोनों ही प्रकार के धोबी है। हिन्दु धोबियों में जो राजपूत यथा तंवर, पंवार, राठौड, परिहार, सोलंकी इत्यादि आते हैं, वे समान श्रेणी के होने पर भी मोची, बेलदार, डाकोत, महत्तर आदि के हाथ का भोजन नहीं करते है।[31] इसके विपरित मुस्लिम धोबी, जो शेख, बहलीम आदि से सम्बन्ध रखते है, वे मात्र हरिजन चमार के घर का ही भोजन नहीं करते है।[32]

'डी' श्रेणी में कुछ जातियां जो पहले राजपूत थी, फिर वे भीलो के लिये तीर बनाने के कर्म में लग गयी, तो उनका नाम तीरगर हो गया।[33] इनकी सामाजिक परम्पराएं भीलों आदि से साम्यता रखती है, किन्तु चूंकि ये राजपूत थे, अत: ये स्वंय को राजपूत ही कहते है।[34] 'डी' क्लास में खरीद जाति मिलती है, जो मुख्य रूप से मुस्लमानों की शेख एवं सैय्यद कौमों से मिलकर बनी है। ये लोग लकडी को खर्राद कर उतारते है इसी कारण ये खेर्रादी कहलाये।[35] यह लोग रंगरेजों की तरह लकडियों को रंगने का कार्य भी करते है। इनके पूर्वज दिल्ली में रहा करते थे तथा वहीं से राजपूताना के नागौर-मारवाड़ के क्षेत्रों में आये। आगे चलकर कई राजपूत जातियों ने भी यह कार्य अपना लिया और खर्रादी कहलाये। राजपूतों एवं मुस्लिमों के इस प्रकार के समन्वय से इनमें कुछ परम्पराएं हिन्दुओं की तो कुछ मुसलमानों की भी है।[36]

इसी प्रकार मारवाड़ के लखारों में एक जाति है- कचारा। इनका मूल पुरूष खीमसी राजपूत था।[37] ये मूल रूप से जैसलमेर से आये थे, जब उन क्षेत्रों में मुसलमानों का उपद्रव बढा तो, खीमसी राजपूत परिवार के लोग स्वंय को काँच की चूडियाँ बनाने

वाले बता कर वहाँ से अपनी जान बचाकर निकले थे, इसी कारण कचारा कहलाये। इनमें चौहान, भाटी, राजपूत आते है एवं धर्म इनका वैष्णव है।

मारवाड़ में रंगरेज एवं नीलगर जाति के लोग भी निवास करते है। कसूम का रंग रंगने वाले रंगरेज[38] एवं नील की रंगत करने वाले नीलगर[39] कहलाये। ये लोग भी मुस्लिम आक्रमणों के कारण दिल्ली से आकर मारवाड़ क्षेत्रों में बसे। इनके पूर्वज चौहान, खींची, खोखर, बहलीम वंशी ज्यादा है। यद्यपि ये लोग मूलत: हिन्दु राजपूत थे, किन्तु मुस्लिम शिल्प अपनाने के कारण इनकी परम्पराएं मुस्लिम है।[40] ये मूलत: राजपूत हिन्दू है, किन्तु बदल जाने से मुस्लिम हो गये, अत: मूल राजपूत इनके सम्बंध नहीं करते। 'डी' क्लास की घाँची कौम गुजरात से आयी है। वहां के राजा सिद्धराज जयसिंघ के क्षेत्र की तेल की घाणियों के तेलियों के कार्य छोड़ कर चले जाने से उनके क्षेत्र के कई कार्य रूक गए। तब उन्होने इन घाणियों की सार-संभाल करने वाले राजपूतों से कहा कि वे ही इन घाणियों से तेल निकाले एवं इसके बदले प्रतिदिन एक सोने की अशरफी मिलेगी। इसके लालच में उन्होने यह कार्य कर दिया, किन्तु इस कार्य के बाद वहां के राजपूतों ने इनको खुद से अलग कर दिया।[41] तब इन राजपूतों ने घाणियां चलाने का कार्य जारी रखा। यद्यपि घाँची (तेली) थे, किन्तु मूलत: राजपूत होने के कारण अपने सम्बंध राजपूतों से ही करते हैं, क्योंकि वे तेलियों को स्वंय से काफी निम्न मानते है।

'डी' क्लास में चितारा जाति भी आती है, जो लकड़ी, दीवार इत्यादि पर चित्र बनाने का कार्य करते है। इनका मूल क्षेत्र लोद्रवा (जैसलमेर) था तथा भाटियों के सगे थे।[42] तुर्कों के हमलों से इनकी मूल जमीन छूट गयी तथा, इन्होने जीवन-निर्वाह के लिये यह पेशा अपना लिया, किंतु आज भी अपने नाते यह लोग पंवारों, भाटियों, चौहानों में ही करते है। 'डी' क्लास के गांछे जाति के लोग गुजरात से आये राजपूत है, कुछ राजपूत जबरदस्ती मुसलमान बनाये जाने से बचने के लिये बाँस का काम करने लगे,[43] जिससे गांछे कहलाये, किन्तु गुजरात के मूल गांछा जाति के लोग इनसे सगापन नहीं करते।[44] इनमें चौहान, गहलोत, सोलंकी, परिहार, भाटी, परमार, राठौड़ जाति के लोग जुड़े है। ये गाछे महाजन राजपूत और जाटों से ही कोई सम्बंध नहीं करते है। नागौर क्षेत्र के गांछों को महत्तर के समान माना जाता है, किंतु वे महत्तरों को स्वंय से निम्न मानते है।[45]

'डी' श्रेणी की तुलना में 'ई' श्रेणी की जातियों में यह स्तरीकरण और अधिक स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। चाकर कौम के लोग पहले जोधपुर राजपरिवार के साथ रहते थे तथा रावणां कहलाते थे, चूंकि वे राजपरिवार के चाकर थे, अत: वे अन्य चाकरों से स्वंय को उच्च मानते थे तथा उनकी परम्पराएं पूर्णरूप से राजपूती है।[46] 'ई' श्रेणी की एक अन्य कौम बावरी है। यह कौम चोरी एवं ठगी में संलग्न थी। भील जाति के लोग यही

करते थे, किन्तु वे जानवरों को चुराते थे, परन्तु यह धन चुराते थे तथा स्वंय को राजपूत बताकर स्वयं को भीलो से उच्च मानते थे।[47] बागडी जाति को राज ने खेतों की रखवाली का कार्य दिया था। इससे पूर्व ये चोरी इत्यादि में संलग्न थे। बागड़ी सांचौर, मालानी आदि में अधिक है, वे अन्य परगनों या क्षेत्रों के बागडियों को स्वंय से निम्न मानते है तथा उन्हे चोर कहते है।[48] वे स्वंय को राजपूतों के नजदीक मानते है। थोरी जाति के लोग भीलों से सम्बन्धित है, किन्तु वे स्वंय को पाबूजी के काल से राजपूत होना बताते है[49] और सम्पूर्ण मारवाड़ में इनका रहवास है। इनका सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि, यह अपनी परम्पराएं आवश्यकतानुसार बदलते रहते है। जैसे कई स्थानों पर मृत्यु के बाद थोरी जलाते है एवं कई स्थानों पर दफनाते है।[50]

थोरी जाति के लोग भाटी, चौहान, राठौड़, सोलंकी आदि खांपों में बँटे हुए है।[51] इसी प्रकार कोली जाति के लोग चोरी के कार्य में संलग्न थे तथा भील मेणों में गिने जाते थे, किन्तु अब वे कृषि में संलग्न हो गये।[52] तलपदा एवं बारियां खांपों के कोली उच्च माने जाते थे तथा इन्हें पालनपुर दरबार में जागीरें भी प्राप्त थी।[53] हरिजनों से भी निम्न सांसी कौम होती है। ये हरिजनों का झूठन खा लेते है। हरिजन इनके समान होने पर भी इनका भोजन नहीं करते है।[54] सांसी भी हरिजनों को अपने से उच्च मानते हैं[55], किन्तु धोबी को स्वंय से नीचा मानते है।[56] सांसी गैर-मुल्क के सांसियों से सम्बन्ध भी नहीं करते, क्योंकि वे उन्हें स्वंय से नीचा मानते है।[57] 'ई' क्लास में गंवारिया जाति के लोग मूंज कूटते है, सिरकियां बांधते है, भैस के सींगों से कंघे बनाते है। ये लोग अमृतसर एवं पटियाला से सम्बंधित है।[58] ये अपने पूर्वजों को राजपूत बताते हैं। मारवाड़ में इनकी बीसलोत, गोरामा, केलोत, मूंछल, कुटटा, बीजलोत इत्यादि खांपें है।[59] रिवाज सभी राजपूतों के समान करते है, किन्तु राजपूतों के समान इन्हे सामाजिक सम्मान प्राप्त नहीं है।

'ई' क्लास की एक जाति हरिजन (स्वीपर) भी है। मारवाड़ में इन्हें महत्तर एवं चूडा भी कहते है। इनकी उत्पत्ति ये मात्रक से मानते है। उसके वंशजों ने मांतगी देवी के मंदिर की क्रिया को भंग (अपवित्र) किया तो, उन्हें लोगों के मल-मूत्र उठाने का श्राप मिला एवं स्वीपर (अपवित्र करने वाला) की पदवी मिली। ये लोग लाल गुरू नामक व्यक्ति को अपना पीर मानते है।[60] इनमें आदिवालो, अमच, अमरवाला, किलाणा, गडवाड़, गारू, चागरा, चंडालिया, डारों, ढिकिया, भेद, भारिया, मारू, लखन, सारसर इत्यादि खांपे है। ये लोग सांसी, धोबी, ढोली एवं सांठियें का जूठा नहीं खाते है। ढोली से ये अत्यधिक परहेज करते है। यदि इनके भोजन पर ढोली की परछाई भी आ जाये तो, उसे त्याग देते है।[61]

'ई' क्लास की एक अन्य जाति रैबारी है। इन्हे मारवाड़ में राईका भी कहते है।

ये लोग जानवरों के चराने का कार्य करते है, (मुख्य रूप से ऊंटों एवं भेडो को चराते हैं) इसके अतिरिक्त ये लोग जानवरों को चुराने का कार्य भी किया करते है। ये रात के समय में भी जानवरों को पहचान लेते है। रैबारियों में मारू और चालकिया दो प्रमुख खांपें है।[62] मारू स्वंय को चालकियों से उच्च समझते है। वे चालकियों की बेटी से अपने बेटे का विवाह कर देते है, किंतु अपनी बेटियां चालकियों में नही ब्याहते है।[63]

रैबारी जाति के लोग मारवाड़ के जैतारण क्षेत्र में चौधरी कहे जाते है। कई रैबारी मुस्लिम भी है। किंतु इन्हें यहाँ के मुस्लिम समाज में कोई स्थान तक नहीं मिलता, क्योंकि ये नमाज-रोजा कुछ नहीं जानते है और नाम भी हिन्दुओं जैसे रखते है।[64] नापत जाति के लोगों से यह हजामत नहीं करवाते है। 'ई' क्लास में चेला जाति भी आती है। ये स्वंय को हिन्दु राजपूत कहती है। इन्हे राज्य की और से एक चाँदी का डण्डा मिला हुआ है,[65] जिसे लेकर यह दरबार की ड्योढी (Gate) पर खडे रहते है। इन्हें ड्योडीदार के आदेशों का पालन करना होता है। ये राजकीय अदालतों एवं महकमों की डाक बाँटते हैं। ये स्वंय को पुराने राठौड़ राजपूत राजाओं की परदायतों की संतान बता कर स्वंय को उच्च बताते है। चेला जाति के लोग सम्बंध रावणा राजपूतों में ही करते है।[66]

इस प्रकार मर्दुमशुमारी उपरोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त अनेक उदाहरण है, जो उपांतिक वर्ग के आंतरिक वर्ग-स्तरीकरण को स्थापित करती है। सामान्यत: भारत में वर्ग विभाजन - वर्ण विभाजन को ही माना जाता रहा हैं, किन्तु यदि सामाजिक ढ़ांचे के आन्तरिक स्तरीकरण को देखा जाए तो, प्रत्येक वर्ग में भी अनेक वर्ग प्राप्त होते है तथा यह विभाजन आन्तरिक शोषण का आधार बनता है। अत: वर्तमान समय में उपांतिक वर्ग का अध्ययन, अगर उनके आंतरिक सामाजिक-आर्थिक स्तरीकरण से किया जाए तो, नवीन प्रकार के शोध-आयामों के मार्ग स्थापित होगें।

संदर्भ

1. 10.31, महाभारत का अनुष्ठान पर्व, क्रिटीकल एडिशन, 48.18 में इसकी जानकारी हैं।
2. बोधायन धर्मसूत्र, I, 1.2.31
3. वर्ण संकर, अदुतपनन्नन व्रत्यानाहुरमनीशान, I. 9.17.15
4. उमा चक्रवती, द सोशल डाइमेन्शस ऑफ अर्ली बुद्धिज्म्, ओ.यू.पी., दिल्ली, 1987, पृ. 122-149
5. बोधायन गृहसूत्र, 2.5.6
6. भारद्वाज गृहसूत्र, 1.1
7. अत्रि स्मृति, पथ 196; अंगिरस स्मृति, पथ 3; यम स्मृति, पद्य 33
8. रामशरण शर्मा, शूद्राज इन एनशियंट इंडिया, तीसरा संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास,

दिल्ली,1990, पृ. 324
9. स्कन्दपुराण, नगर खण्ड,VI,242.32
10. सी.आई.आई., iii, संख्या 60, II 12.3
11. ई.आई., XX, संख्या 14, बी. प्लेट्स,1.19
12. ई.आई., iii, संख्या 40, एपियफिया कर्नाटिका, VII, शिकारपुरा तालुका 20ए.
13. इस्क्रिप्सन ऑफ बंगाल, iii, संपादक, एन.सी. मजूमदार, राजशाही,1929, संख्या 5, दोहा 36
14. पी.वी.काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, 2, 77
15. टी.वार्टस्, ऑन युआन च्वांग्स् ट्रेवल्स इन इंडिया, सं. टी. रिस डेविड्स और एस. डब्ल्यू. बुशेल, दो खण्डों में, 1 ,168, लंदन, 1904-1905
16. अलबरुनीज् इंडिया, सं. एडवर्ड सी. सचाऊ, ii, 134-135, दिल्ली,1965
17. स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, 2, 39.291-292
18. मुंशी रायबहादुर मुंशी हरदयालसिंह, रिपोर्ट मर्दुमशुमारी राजमारवाड़, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र, मेहरानगढ़ फोर्ट, जोधपुर, 2010, पृ. 1
19. वही, पृ. 448-552
20. वही, पृ. 553-589
21. वही, पृ. 449
22. वही, पृ. 450
23. वही, पृ. 457
24. वही, पृ. 458
25. वही, पृ. 462 (गाड़ोलिये बैलों की खस्सी करते है एवं जांघड़े मोचियों की भांति चमड़ेका म्यान बांधते हैं)
26. वही, पृ. 465
27. वही
28. वही, पृ. 470
29. वही, पृ. 487
30. वही, पृ. 488
31. वही, पृ. 553
32. वही, पृ. 554
33. वही
34. वही
35. वही, पृ. 471
36. वही
37. वही, पृ. 475

38. वही, पृ. 481
39. वही
40. वही
41. वही, पृ. 493
42. वही, पृ. 509-510
43. वही, पृ. 515
44. वही
45. वही
46. वही, पृ. 558
47. वही, पृ. 560
48. वही, पृ. 562
49. वही, पृ. 564
50. वही, पृ. 565
51. वही, पृ. 564
52. वही, पृ. 566
53. वही
54. वही, पृ. 585
55. वही, पृ. 588
56. वही
57. वही
58. वही, पृ. 581
59. वही
60. वही, पृ. 582-583
61. वही, पृ. 584
62. वही, पृ. 571
63. वही
64. वही, पृ. 577-579
65. वही, पृ. 556
66. वही